



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2019; 5(1): 45-47

© 2019 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 17-11-2018

Accepted: 21-12-2018

हरिनाथ झा

शोध-प्रज्ञ, यू जी सी- नेट, जे आर
एफ, संस्कृत विभाग, ल० ना० मि०
विश्ववि०, दरभंगा, बिहार, भारत

गीता में माया का स्वरूप

हरिनाथ झा

भूमिका:

गीता के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में 'मामका' [1] शब्द से माया परिलक्षित होती है। प्रथम अध्याय में ही अर्जुन माया के वशीभूत होकर द्रवित हो उठा और बाणसहित धनुष को छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया। माया का व्यापक अर्थ अविद्या है। अर्जुन का मोह दूर करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने गीता का गान किया।

गीता में माया की कल्पना का उचित स्थान क्या है, यह जानने के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि किन-किन भिन्न अर्थों में माया शब्द का प्रयोग वहाँ किया गया है और उन सबके विषय में गीता का अपना ठीक अभिप्राय क्या है?

कूट-शब्द: मामका, माया, अविद्या, मोह

प्रस्तावना:

यदि सर्वोपरि यथार्थसत्ता के ऊपर संसार की घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं परता, तब उक्त घटनाओं के कारण की व्याख्या एक रहस्यमय समस्या बन जाती है। गीता का रचयिता इस अर्थ में 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं करता, भले ही उसके विचारों द्वारा यह उपलक्षित क्यों न होता हो। अनादिकाल से चली आयी, किन्तु अयथार्थ अविद्या संसार की भ्रांति का कारण रहते हुए भी उक्त ग्रन्थकार के मन में प्रवेश नहीं पा सकती।

शोध-प्राकल्पना:

कहा गया है कि शरीरधारी ईश्वर सत् और असत् की, ब्रह्म की निर्विकारिता की एवं परिणमन के विकार, विक्रिया या परिवर्तन, को भी अपने अन्दर धारण करता है—

‘तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।’ [2]

माया एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह विकारवान प्रकृति को उत्पन्न करता है। यह शक्ति है, अथवा ईश्वर की क्रियाशीलता है, अथवा आत्मविभूति है, जो आत्मपरिरमण की शक्ति है। इन अर्थों में ईश्वर और माया परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है और दोनों ही अनादि है। [3] गीता में सर्वोपरि ब्रह्म की इस शक्ति को 'माया' कहा गया है। [4]

Corresponding Author:

हरिनाथ झा

शोध-प्रज्ञ, यू जी सी- नेट, जे आर
एफ, संस्कृत विभाग, ल० ना० मि०
विश्ववि०, दरभंगा, बिहार, भारत

चूँकि ईश्वर विश्व की उत्पत्ति में अपने दो तत्त्वों प्रकृति और पुरुष (प्रकृति और चेतना) के द्वारा समर्थ होता है इसलिये उन्हें ईश्वर की माया (निम्न तथा उच्च श्रेणी) कहा गया है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।^[5]

धीरे—धीरे आगे चलकर माया का अर्थ निम्न श्रेणी की प्रकृति हो गया, क्योंकि पुरुष को ऐसा बीज बतलाया गया है, जिसे प्रभु परमेश्वर प्रकृति के गर्भ में प्रवेश करता है, जिससे विश्व की उत्पत्ति होती है।

चूँकि यह अभिव्यक्ति जगत् मरणधर्मा मनुष्यों की दृष्टि से यथार्थ को छिपाता है, इसलिये इसे 'भ्रान्तिरूप' कहा गया है।^[6]

यह जगत् अपने आप में भ्रान्तिरूप नहीं है ; यद्यपि इसे केवल प्रकृति का यांत्रिक परिणाम स्वरूप समझकर जो ईश्वर के साथ असम्बन्ध है, हम उसके दैवीय तत्त्व को साक्षात्कार करने में असफल रहते हैं। यही भ्रान्ति का मूल बन जाता है। दैवीय माया अविद्या माया बन जाती है। यह केवल हम मरणधर्मा मनुष्यों के लिए ही ऐसी है, क्योंकि हम सत्य से दूर हैं। ईश्वर के लिए, जो इसका पूर्ण ज्ञान रखता है और इस पर नियंत्रण रखता है, यह विद्या माया है।

मनुष्य के लिए माया विपत्ति और दुःख का कारण है, क्योंकि यह एक भ्रान्त, आंशिक चेतना का पोषण करती है और उस अवस्था में पूर्ण यथार्थता पर से चेतना को ग्रहण करने की शक्ति का प्रभाव शिथिल हो जाता है। ईश्वर माया के गहन आवरण में ढका हुआ प्रतीत होता है।^[7] 'वह माया जो अविद्या उत्पन्न नहीं करती, सात्विकी माया कहलाती है। जब इसमें मल आ जाता है तब यह 'अज्ञान' अथवा अविद्या को जन्म देती है। प्रथम प्रकार की माया में प्रतिबिम्बित "ब्रह्म" ईश्वर है और दूसरे प्रकार की माया में प्रतिबिम्बित "ब्रह्म" जीव अथवा जीवात्मा है, यह अर्वाचीन वेदान्त है।^[8] मनुष्य माया के अधीन हैं और बाह्य प्रतीतियों में खोए रहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥^[9]

इस जगत् में जीव अपनी अपूर्णता के कारण जन्म लेता है, जब तक हम माया से ऊपर उठेंगे और अपने यथार्थ पद को पहचानेंगे तभी हम अपने इस पृथक्त्व से छूटकारा पा सकेंगे।

कर्म सब प्रकृति के गुणों के कारण निष्पन्न होते हैं (किन्तु) मनुष्य की आत्मा अहंकार से विमूढ़ होकर (मोह अथवा भ्रान्ति को प्राप्त होकर) यह समझने लगती है कि करने वाला मैं हूँ।^[10]

त्रिगुणमयी माया भगवान् की दैवी शक्ति है, जो सदैव इनके साथ रहती है। यह 'माया' अचिन्त्य है, अतएव इसे न सत् और असत् कहा जा सकता। ब्रह्म माया या अविद्या की उपाधि के कारण ईश्वर और जीव के रूप में प्रतीत होता है। ईश्वर **मायापति** है और जीव **माया दास**।

गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है—मेरा व्यक्तक स्वरूप मायिक है और उसके परे का जो अव्यक्तरूप, अर्थात् जो इन्द्रियों को अगोचर है, वही मेरा सच्चा स्वरूप है—

अव्यक्तं व्यक्तीमापन्नं मन्यते माम बुद्धयः ।^[11]

और इसके अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं कि 'मैं अपनी योग माया से आच्छादित हूँ, इसलिये मूर्ख लोग मुझे नहीं जानते।' ^[12] फिर चौथे अध्याय में उन्होंने अपने व्यक्त रूप की उत्पत्ति इस प्रकार बतलायी है—'यद्यपि मैं जन्मरहित हूँ और अव्यक्त हूँ, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लिया करता हूँ अर्थात् व्यक्त हुआ करता हूँ।' ^[13] वह आगे सातवें अध्याय में कहते हैं—यह त्रिगुणात्मिक प्रकृति मेरी दैवीय माया है। इस माया को जो पार कर जाते हैं, वे मुझे पाते हैं और इस माया से जिनका ज्ञान नष्ट हो जाता है, वे मूढ़ नराधम मुझे नहीं पा सकते।

देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥^[14]

शंकर के दर्शन में माया और अविद्या का अर्थ, एक ही अर्थ में हुआ है। जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य है, उसी प्रकार माया और अविद्या अभिन्न है। शंकर ने माया, अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, नामरूप, अव्यक्त, मूल प्रकृति आदि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। बाद में वेदान्तियों ने माया और अविद्या में भेद किया है। उनका कहना है कि माया भावात्मक है, जबकि अविद्या निषेधात्मक है। माया को भावात्मक इसलिये कहा जाता है कि माया के द्वारा ब्रह्म संपूर्ण विश्व का प्रदर्शन करता है। माया विश्व को प्रस्थापित करती है। अविद्या इसके विपरीत ज्ञान के अभाव को संकेत करने के कारण निषेधात्मक है, माया और अविद्या में दूसरा अन्तर यह है

कि माया ईश्वर को प्रभावित करती है जबकि अविद्या जीव को प्रभावित करती है।

रामानुज ने शंकर के मायावाद के विरुद्ध अपना आक्षेप उपस्थित किया है—यदि यह कहा जाय कि अविद्या का आश्रय ब्रह्म है तब शंकर का अद्वैतवाद खण्डित हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त माया का अस्तित्व मानना पड़ता है। फिर यदि यह कहा जाय कि अविद्या का निवास जीव में है, तो यह भी अमान्य होगा क्योंकि जीव स्वयं अविद्या का कार्य है। जो कारण वह कार्य पर कैसे आश्रित रह सकता है। इस प्रकार अविद्या का आश्रय कोई नहीं कहा जा सकता है।

शंकर वेदान्त के मायावाद का खण्डन करते हुए रामानुज ने उसमें सात प्रमुख दोष बताए हैं, जिन्हें 'सप्त-अनुपपत्ति' कहा जाता है— आश्रयानुपपत्ति, तिरोधानानुपपत्ति, स्वरूपानुपपत्ति, अनिर्वचनीयत्वानु-पपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति, निवृत्त्यनुपपत्ति।

निष्कर्षः

शंकर एवं रामानुज ने अपनी-अपनी मतानुसार माया एवं अविद्या की व्याख्या की किन्तु गीता के रचयिता के अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है—'हे निर्मल हृदय अर्जुन! (शरीर रूप) यन्त्र में चढ़े हुए सब प्राणियों को (अन्तर्यामि) परमात्मा (अपनी) माया (शक्ति) से उनके (कर्मों के अनुसार) घुमता हुआ (चक्कर काटता हुआ) समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ 18.61

संदर्भः

1. धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामका पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजयः ॥
2. गीता—9.19
3. शा0सूत्र0—2.13.15 (शाण्डिल्य सूत्र)
4. गीता—18.61, 4.6
5. गीता—4.16
6. गीता—7.14 : 7.25
7. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्ट्ये ॥ ईशो0 15
8. पंचदशी—1.15—17
9. गीता—7.13
10. गीता—3.27
11. गीता—7.24

12. नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृत्तः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ —
गीता—7.25
13. गीता—4.6
14. गीता—7.14